साकल्य

[उद्योग-संस्कृति-साहित्य-सौन्दर्य्य का संयोजन]

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रकाशक :

श्रोम्प्रकाश बेरी,

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,

पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,

बनारस ।

प्रथम संस्करण

सन् १९५५ ई०

मूल्य : चार रुपया

मुद्रक :

श्रीकृष्णचन्द्र बेरी,

विद्यामन्दिर प्रेस लि०,

डी० १५/२४, मानमन्दिर,

बनारस ।

बान्दुंग-सम्मेलन के पथ पर विध्वस्त

सिन्धुमग्न व्योमयान

'काश्मीर प्रिन्सेस'

की

स्वागतिका

कुमारी बेरी डोरिया

की

स्वर्गीय आत्मा को

स्नेहाञ्जलि

जिसने यात्रियों की प्राण-रक्षा के लिए

हंसते-हंसते अपने तरुण प्राणों को

उत्सर्ग कर दिया

कुमारी वैरो डोरिया
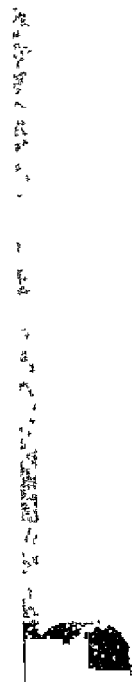
दो शब्द

'साकल्य' में मेरे अब तक के मनन चिन्तन का सर्वस्व है। इसमें मैंने उद्योग-संस्कृति-साहित्य-सौन्दर्य्य का एकान्वय किया है। ये सजीव प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं, बल्कि अर्थ-धर्म्म-काम-मोक्ष की तरह अन्योन्य हैं, पर्य्याय हैं। सबके मूल में प्रकृति है, अतएव किसी भी सत्प्रवृत्ति को ग्रहण करना प्रकृति की ही मानवीय साधना करना है।

इस युग में शरीर और आत्मा, यथार्थ और आदर्श, स्थूल और सूक्ष्म, वस्तु और भाव को एक-दूसरे से विच्छिन्न करके देखा जाता है, इसीलिए समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु यह विभाजन और समन्वय अस्वाभाविक है। हम रचनात्मक दृष्टि से देखें तो सभी प्रवृत्तियों में सहज स्वाभाविक एकता मिल जायगी, समन्वय के दुरूह प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

मेरा ध्रुवविश्वास है कि वर्तमान अशान्ति और अव्यवस्था के बाद आनेवाला युग गान्धी का रचनात्मक युग होगा। 'साकल्य' में उसी युग (निसर्गतः युग-युग) का स्थापत्य और लालित्य है।

काशी,

२०-१०-५५

—लेखक

अनुक्रमणिका

युग का भविष्य

भूदान के लिए उत्तर प्रदेश की पैदल यात्रा करते हुए पृथ्वीपुत्र विनोबा भावे जब काशी पधारे थे तब विद्यापीठ में मैंने भी उनके दर्शन किये थे। उन्होंने साहित्यिकों से सम्मिलन के लिए एक दिन निश्चित किया था। विद्यापीठ के जिन प्रध्यापक महाशय को उन्होंने साहित्यिकों को आमन्त्रित करने के लिए कहेला था, वे समाजवादी थे, विनोबा के कार्य्यक्रम से उदासीन थे। फलतः उस दिन केवल मैं ही एक साहित्यिक श्रमजीवी की हैसियत से उनके प्रवचन में उपस्थित हो सका।

जीवन की प्रारम्भिक प्रेरणाएँ मुझे अपने बचपन में ग्रामीण वातावरण में मिली हैं। अतएव, स्वभावतः गान्धी जी के रचनात्मक कार्यों और विनोबा के भूदान-आन्दोलन के प्रति मैं निष्ठावान हूँ। सन् १६२० से ही सार्वजनिक जागृति का अनुयायी हूँ। तबसे अब तक इतिहास कहाँ-से-कहाँ चला गया है। किन्तु आज भी मेरा दृष्टिकोण अपरिवर्त्तित है। सन् १६२० में गान्धी जी जिस ग्रामीण चेतना को लेकर चले थे उसी चेतना का अधीन हूँ। गान्धी जी के बाद उनके रचनात्मक कार्यों के उत्तराधिकारी विनोबा जी हैं, अतएव, उनके पदचिह्नों में भी मैं अपना पथ खोजता हूँ।

इस समय दूसरे महायुद्ध के बाद सारा संसार उसके दुष्परिणामों को भोग रहा है। सम्मोहित होकर भी वह कोई समान पाठ नहीं सीख रहा है, तीसरे महायुद्ध की ओर अग्रसर होना चाहता है। पंडे-पुरोहित जिस तरह जनता को अपने स्वार्थ के लिए भुलाये रखना चाहते हैं, कर्त्तव्य की ठीक दिशा का बोध नहीं होने देते; उसी तरह राजनीतिक नेता भी अपने आर्थिक आडम्बरों से लोक-छलना कर रहे हैं। ऐसे कुसमय में विनोबा जी भूदान का कार्य हाथ में लेकर जनता में स्वावलम्बन और स्वाभाविक जीवन-दर्शन को जगा रहे हैं।

मेरे मन में कई जिज्ञासाएं हैं। मुख्य जिज्ञासा यह है कि मुद्रागत अर्थशास्त्र को बदले बिना मनुष्य अपने प्रयत्नों से स्वाभाविक पुरुषार्थी कैसे बन सकता है? अपनी 'ज्योतिविहग' नामक पुस्तक में मैंने लिखा है—"मनुष्य-मनुष्य के बीच में [illegible]-सूचक माध्यम (मुद्रा) रखकर उससे किसी सजीव (सांस्कृतिक अथवा आन्तरिक) निर्माण की आशा नहीं की जा सकती।"

आज वातावरण में इनकलाब के नारे लगाये जा रहे हैं। लेकिन जब तक किसी भी तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र में मुद्रागत अर्थशास्त्र बना रहेगा तब तक कोई भी इनकलाब नहीं हो सकता। जिस दिन मुद्रागत अर्थशास्त्र का स्थान किसी सजीव माध्यम* को मिल जायगा उस दिन बिना किसी नारे के अपने आप ही इनकलाब हो

*गान्धी जी सूत का माध्यम चलाना चाहते थे।

जायगा, मनुष्य अपने स्वाभाविक जीवन-पथ पर चलने लगेगा। यदि आवाज़ बुलन्द करने से ही परिवर्त्तन हो सकता तो दूसरे महायुद्ध के हाहाकार से ही परिवर्त्तन हो गया होता।

गान्धी जी और विनोबा जी के प्रयत्नों का लक्ष्य गाँवों के मुद्रा-रहित सजीव श्रमशास्त्र को पुनरुज्जीवित करना है। उनके प्रयत्नों के प्रति नि.सदिग्ध होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय विभीषिकाओं और यान्त्रिक कृत्रिमताओं के कारण अन्धकार मे प्रकाश पाने की आशा से मैंने उस दिन विनोबा जी से प्रश्न किया था कि मुद्रा को आप किस तरह हटायेंगे? बिना इसको हटाये तो भूदान का उद्देश्य सिद्ध नही होगा।

बरेली में अपने एक प्रवचन में विनोबा जी ने प्रामिसरी नोटों की होली जला देने के लिए कहा था। भूदान मे भी वे अर्थदान नही लेना चाहते थे। अतएव, मेरा प्रश्न अप्रासगिक नहीं था। विद्यापीठ के प्रवचन में उन्होंने मेरे प्रश्न का क्या उत्तर दिया, मैं सुन नही सका। किन्तु दुभाषिया ने बतलाया कि विनोबा जी मुद्रा को 'मुद्राराक्षस' कहते हैं। वर्धा के रचनात्मक कार्यों में बिना मुद्रा के ग्रामोद्योगों का प्रयोग कर रहे हैं। वहाँ सफल होगा तो सारे देश में फैल जायगा।

प्रश्न एक देश का नहीं, सारे ससार का है। अब वह युग नही है कि शेष संसार से अलग दुनिया के एक कोने मे हम अपना स्वतन्त्र और स्वावलम्बी प्रयोग कर सकें। इस समय यही कहा जा सकता है कि आगे-पीछे सारे ससार में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो

जायँगी जो सभी देशों को ग्रामीण स्वावलम्बन के लिए बाध्य कर देंगी। संसार जिस रफ्तार से दौड़ रहा है उसका आखिरी परिणाम यही होगा, इसमें किसी भी दूरदर्शी को सन्देह नहीं हो सकता। भारत यदि तीसरे महायुद्ध की आग से बचा रहा तो विनोबा का प्रयास शेष संसार के लिए एक आदर्श दृष्टान्त बन जायगा।

वर्त्तमान कठिनाइयों में मैं सोचता हूँ, जीवन के स्वाभाविक प्रवाह की एक अपनी ही गति-विधि होती है। नदी नहर की तरह किसी बँधे-बँधाये मार्ग से नहीं चलती, वह अपना मार्ग और दिशा अपनी धारा में स्वयं बना लेती है। विघ्न-बाधाओं को देख कर ठिठकती नहीं, अपनी जीवनी शक्ति से आगे बढ़ जाती है। गान्धी और विनोबा का कार्य्य-स्रोत भी ऐसा ही अजस्र है।

विनोबा के काशी-प्रवास के अवसर पर मैंने उन्हें अपनी ही तरह दुबली-पतली एक पुस्तक भेंट की थी—'धरातल'। वह एक साहित्यकार का ग्रामीण चित्रपटल है।

मैं तो किसी निसर्ग-सुन्दर युग की सांस्कृतिक प्रजा हूँ। आज के युग में मेरी स्थिति उस आश्रम-मृग की-सी है जो प्रतिकूल वातावरण में आ पड़ा है। मेरा युग तो कहीं दिखाई नहीं देता, फिर भी जहाँ कृषि और प्रकृति अब भी स्मृतिशेष हैं वहीं मेरा मन चला जाता है। अपनी पुस्तक 'पथचिह्न' में मैंने लिखा है—
"जी चाहता है, फिर उन्हीं जनपदों की सेवा में निकल पड़ूँ जहाँ से आकर मैं नगरप्रवासी हो गया।"

मैं जिस पथ पर अग्रसर होना चाहता था, सन् '५१ से विनोबा भावे उसी पथ पर पैदल चल पड़े हैं। अपने भूदान-यज्ञ द्वारा वे इस कृत्रिम यन्त्र-युग में मनुष्य और प्रकृति के विच्छिन्न सम्बन्ध को फिर जोड़ रहे हैं।

प्रकृति का वरदान पाने के लिए मनुष्य को उससे एकप्राण होकर स्वाभाविक पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। विनोबा का भूदान-यज्ञ उसी पुरुषार्थ को पुनः प्रारम्भ करने के लिए भूमिका है। स्वाभाविक पुरुषार्थ (कृषि और शिल्प) से ही मनुष्य प्रकृति की तरह पल्लवित-प्रफुल्लित होगा। उसी से ऐहिक कुशल-क्षेम के साथ-साथ आत्मिक कल्याण भी होगा। जनक का अध्यात्म और कृष्ण का कला-लालित्य यही सङ्केत दे गया है। दोनों ही पृथ्वी की कृषि-साधना के साधक थे।

अपने नवीन निर्म्माण में स्वाभाविक पुरुषार्थ की यह विशेषता होगी कि वह पिछले युगों की शोषण-प्रणालियों से मुक्त हो जायगा। मध्ययुग की सत्ताएँ तो नामशेष हो ही गयी हैं, आधुनिक युग का पूँजीवाद भी बुझने के लिए ही तीव्र हो गया है। या तो तीसरे महायुद्ध से या विश्वव्यापी अकाल से यन्त्र-युग का भी अन्त होने जा रहा है। तथास्तु।

इस अभिशप्त युग में लोकजीवन के जागरूक प्रहरी और भविष्य के ज्योतिवाहक पथिकों को हार्दिक प्रणाम। मानवता के सौभाग्य से वे दीर्घजीवी हों।

काशी,
१९५४ ई०

संस्कृति का आधार

यातायात की सुविधा बढ़ जाने से दुनिया सिमटती जा रही है, इसी के साथ ही मनुष्य अपने बाहर-भीतर सङ्कीर्ण (स्वार्थ-सङ्कीर्ण) भी होता जा रहा है। कहा जाता है, भौगोलिक दूरी दूर हो जाने से दुनिया एक होती जा रही है; किन्तु इसी के साथ यह भी सत्य है कि अब पहिले की अपेक्षा एक-दूसरे के हितों पर आक्रमण करना आसान हो गया है।

जब यातायात की आज-जैसी सुविधा नहीं थी तब भी पृथ्वी एक थी, आकाश एक था। भौगोलिक दूरियों में बँटी रहने पर भी प्राकृतिक सृष्टि अखण्ड थी। किन्तु क्या बाहरी सृष्टि ही अखण्ड थी, मनुष्य भीतर से विभक्त था? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी और आकाश में यदि नैसर्गिक एकता थी तो मनुष्य में आध्यात्मिक एकता थी। जिस युग में मनुष्य ने 'खल्विदं ब्रह्म' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अनुभव किया था उस युग में वह देशों की सीमा ही नहीं, बल्कि अपने शरीर की भी सीमा पार कर विश्वात्मा हो गया था; उसकी चेतना का विस्तार अश्वत्थ और वट वृक्ष की शाखाओं की तरह दिग्दिगन्त को स्पर्श कर रहा था।

कालान्तर में वह आध्यात्मिक एकता पीछे छूट गयी, अब यह वैज्ञानिक एकता का युग है। पिछले युगों में मनुष्य ने जिस प्रकृति

के साथ आध्यात्मिक तादात्म्य स्थापित किया था, अब उसी प्रकृति पर वैज्ञानिक आधिपत्य स्थापित कर लिया है। जो प्रकृति पहिले एक सजीव साधना थी, वह अब जड़ साधन मात्र रह गयी है। मनुष्य देही नही, देह हो गया है, देह की सुविधाओं को ही विज्ञान ने सुगम कर दिया है। जीवन पुरुषार्थ नही, उपभोग मात्र रह गया है। क्या इसमे मनुष्य को सुख-शान्ति मिल गयी? कवि पूछता है—

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यन्त्र यान, वैभव महान,
सेवक हैं विद्युत् वाष्प शक्ति : धनबल नितान्त,
फिर क्यों जग में उत्पीडन? जीवन क्यों अशान्त?

कवि स्वयं इसका उत्तर देता है—

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नही मानव का आज हृदय!

.. .. ..

है श्लाघ्य मनज का भौतिक सञ्चय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास?

विज्ञान के द्वारा मनुष्य का यान्त्रिक विकास हुआ है, हार्दिक विकास नहीं। उसमें क्रिया है, चेतना नही। असन-वसन-व्यसन से लेकर जीवन के यावत् कार्य्य यन्त्रवत् हो गये हैं। मनुष्य का न तो अपने ही जीवन मे कोई जीवित सम्बन्ध है, न दूसरो के जीवन से। उसमें स्नेह नही है, सहयोग नहीं है, गार्हस्थ्य नही है, समाज नही है।

विज्ञान के द्वारा व्यक्ति विश्व नहीं बन सका। वह अपने में ही क्षुद्र हो गया है। उसे ठीक अर्थ में स्वार्थी भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो यन्त्रों की तरह जीवन्मृत है, उसमें न तो आत्म-चेतना ही हो सकती है और न लोक-चेतना, उससे न तो स्वार्थ ही सध सकता है, न परमार्थ। सच तो यह कि प्रत्येक मनुष्य जिन्दगी के नाम पर आत्महत्या कर रहा है, स्वयं मिट रहा है और जीवन-संघर्ष के नाम पर दूसरों को मिटा रहा है। यह कैसी छलना है, प्रवञ्चना है, विडम्बना है!

निःसन्देह विज्ञान ने मनुष्य की कार्य्यक्षमता और दक्षता बढ़ा दी है। किन्तु उसका कर्तृत्व कर्त्तव्य नहीं बन सका है—उसकी क्रियाशीलता में आन्तरिकता नहीं है, आस्था नहीं है, संवेदनशीलता नहीं है, माता की-सी तन्मयता नहीं है। एक शब्द में मनुष्य कर्म्मशील नहीं, कार्य्यवाहक हो गया है।

इसीलिए उसकी कार्य्य-तत्परता बाहर से तो खूब चुस्त-दुरुस्त दिखाई देती है, किन्तु भीतर से दायित्व-शून्य हो गयी है। ऐसी कार्य्य-तत्परता का मूल्य मरणान्तक हो जाता है। अभी हाल में चीनी प्रतिनिधियों को लेकर बांदुङ्ग सम्मेलन (इन्डोनेशिया) जाते समय भारतीय वायुयान जिस विस्फोटक दुर्घटना से ध्वस्त हो गया वह इसी निरर्थक कार्य्य-तत्परता का निष्फल दृष्टान्त है। कहा जाता है कि विरोधी दल के कार्य्यकर्त्ताओं ने उसके भीतर 'टाइम बम' रख दिया था। 'टाइम बम' तो मनुष्य की निर्म्मम मनोवृत्ति का एक प्रतीक है। क्या प्रत्येक व्यक्ति उसी की तरह हिंसक

(विध्वंसक) नहीं हो गया है! क्या वह समाज-विरोधी तत्वों का अग्निपुञ्ज नहीं बन गया है!!

राजनीतिक व्यक्तियों के राग-द्वेष और अहङ्कार का जो विस्फोट युद्धों में होता आया है, उसी का विषाक्त वातावरण जनसाधारण के दैनिक जीवन में भी छा गया है। दूसरे महायुद्ध के बाद चारों ओर अव्यवस्था, विशृङ्खलता, उच्छृङ्खलता और लोलुपता फैल गयी है। छात्रों की अनुशासन-हीनता से लेकर तरह-तरह के आन्दोलनों तक में एक ही अमर्ष-वृत्ति दुर्विनीत और दुर्दमनीय हो गयी है। अखबारों में आये दिन हड़ताल, उपद्रव, दुर्घटना, अनुशासन-हीनता, चोरी, डाका, हत्या, और पदाधिकारियों के प्रति असन्तोष के समाचार छपते रहते हैं। यह विश्वव्यापी अशान्ति ही क्या युग-क्रान्ति है? तब तो ट्रेन-दुर्घटना और हवाई दुर्घटना भी क्रान्ति कही जायगी!——(इधर ट्रेन-दुर्घटना और हवाई दुर्घटना बहुत होने लगी है)।

आज चारों ओर जो निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता फैली हुई है उसका कारण क्या है? मनुष्य की स्नायुओं को अतृप्त आकांक्षाओं ने अस्वाभाविक उत्तेजना से असन्तुलित कर दिया है। उसकी चेतना मूर्च्छित हो गयी है, क्रियाशीलता पथभ्रष्ट हो गयी है। मनुष्य की कुण्ठित प्रवृत्तियाँ शारीरिक उद्वेगों (काम, क्रोध मद, लोभ, घृणा, द्वेष, संघर्ष) में व्यक्त हो रही हैं।

आकांक्षाओं की अतृप्ति का कारण क्या आर्थिक वैषम्य है? आर्थिक वैषम्य तो मध्ययुग में भी था, उस युग में भी मनुष्य

अतृप्त था। किन्तु अतृप्ति ने चेतना को ग्रस नहीं लिया था, क्योंकि वह सर्वथा भौतिक नहीं, दार्शनिक भी थी। भौतिक अभावों में भी चेतना के सञ्चार के लिए जीवन का विस्तृत रचनात्मक क्षेत्र था, तभी तो उसका विकास संस्कृति और कला में हुआ।

मध्ययुग की अपेक्षा आधुनिक युग में विज्ञान ने भौतिक साधन अधिक उपलब्ध कर दिये हैं; फिर भी मनुष्य का, चेतना का, जीवन का विकास क्यों नहीं हो रहा है? कहा जा सकता है कि जैसे बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है, वैसे ही जीने के लिए साधन भी पर्य्याप्त नहीं हैं। अपनी देह की रक्षा करना ही मनुष्य के लिए कठिन हो गया है, फिर वह चेतना का विकास कैसे करे? तो क्या आबादी कम हो जाने और साधन बढ़ जाने से मनुष्य स्वस्थ अथवा आत्मस्थ हो जायगा?

जन-संख्या और साधन ही विचारणीय नहीं है। हमें जनता की जीवन-प्रणाली और औद्योगिक प्रणाली का भी ध्यान रखना है। जीवन और उद्योग, दोनों में कृत्रिमता आ गयी है। जीवन के अनुरूप ही साधन बनते हैं। जनता की जड़ता की तरह ही साधन भी जड़ हो गये हैं। या यों कहें, युग-युग के आर्थिक वैषम्य की क्षतिपूर्ति के लिए विज्ञान ने जो भावना-रहित साधन प्रस्तुत किये उनसे जीवन भी जड़ हो गया। सुख-दुख अपने स्वाभाविक मार्ग से औद्योगिक समाधान नहीं पा सका, उद्योग: कर्म्मयोग नहीं बन सका। वास्तविकता यह है कि सामन्तवाद और पूंजीवाद में यदि वर्ग-वैषम्य था तो वैज्ञानिक उद्योगवाद में मनुष्य और यन्त्र का

जीवन-वैषम्य उत्पन्न हो गया है। मध्ययुग में मनुष्य ही उपभोक्ता और उत्पादक था, अब सभी वर्गों का मनुष्य केवल उपभोक्ता रह गया है, उत्पादक यन्त्र हो गया है। जीवन का यह अस्वाभाविक विभाजन है। सभी देशों में वैज्ञानिक दृष्टि से कई-कई वर्षों की औद्योगिक योजनाएँ बनायी जाती हैं, किन्तु जीवन का सजीव रचनात्मक क्षेत्र (कर्म्म-क्षेत्र) न मिलने के कारण मनुष्य हतबुद्धि हो गया है, उसकी यही मानसिक मूर्च्छा बाहर शारीरिक आस्फालनों में आन्दोलित हो रही है। मनुष्य के मन में चेतना का जो गत्यवरोध हो गया है उसी का दुष्प्रभाव जीवन और साहित्य में पड़ रहा है।

गत्यवरोध हो जाने से छोटे दायरे मे जो मुठभेड़ होने लगती है वही बड़े दायरे मे युद्ध कहलाने लगती है। इस शताब्दी के दूसरे महायुद्ध के बाद अब वायुमण्डल म तीसरे महायुद्ध की आशका मँडरा रही है। टाइम बम की तरह अणु-बम भी विस्फोटित होने के लिए समय की प्रतीक्षा कर रहा है। विश्व की इस विकराल स्थिति से सभी देशों के कर्णधार चिन्तित हो उठे हैं। सोवियट रूस ने शान्ति का नारा बुलन्द किया है। अन्य शान्तिप्रिय राष्ट्र भी उसकी आवाज का साथ दे रहे हैं।

खेद है कि पश्चिमीय देशों के भाग्य-विधाता विज्ञान, राजनीति और मुद्रा-नीति की परिधि में ही परिस्थितियों पर विचार करते हैं। समस्याएँ इन्हीं कृत्रिम मानदण्डों (विज्ञान, राजनीति, मुद्रा-नीति) से उत्पन्न हुई हैं, अतएव इनसे अभ्यस्त राष्ट्रनायकों का इन्हीं की परिधि मे सोचना उनके लिए स्वाभाविक है। किन्तु

यदि हमें विश्वशान्ति अभीष्ट है तो समस्याओं पर विचार करने के लिए सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रधानता देनी चाहिये। एशिया ने जीवन के सात्त्विक मानदण्ड के रूप में शान्ति के नारे के साथ 'पञ्चशील'* सिद्धान्त को उपस्थित कर सांस्कृतिक दृष्टिकोण का ही श्रीगणेश किया है, इसी की राजनीतिक प्रतिक्रिया पाकिस्तान का 'सप्त' सिद्धान्त है।

२० अप्रैल को बाडुङ्ग सम्मेलन में भारत ने एशिया और अफ्रीका की सांस्कृतिक सहयोग-समिति से कहा था—"राष्ट्रों में सामञ्जस्य, एकता और सहयोग के लिए राजनीतिक सन्धियों की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए एक ही सुन्दर तरीका है, वह यह है कि हम एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें, एक-दूसरे के मस्तिष्क और हृदय की भावनाओं को समझने का प्रयत्न करें।" भारत के इस मन्तव्य में सहिष्णुता, उदारता, नम्रता और गुण-ग्राहकता है।

सहृदय विचारकों ने बाडुङ्ग-सम्मेलन को ऐतिहासिक दृष्टि से इस शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा है। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि उसमें राजनीति की संकीर्ण परिधि से मुक्त होकर

---

*(१) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना। (२) आक्रमण न करना। (३) एक-दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना। (४) समता और परस्पर लाभ। (५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

संस्कृति की विस्तीर्ण परिधि में पदार्पण करने का निश्चय किया गया है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि विश्व-मैत्री के लिए संस्कृति को ही आधार मान कर उसके विरुद्ध जाने-वाली राजनीतिक प्रवृत्तियों को स्थगित कर देने का सुझाव दिया गया है। बौद्धकाल के बाद इस युग में गान्धी जी ने अपने अहिंसा-त्मक आन्दोलन-द्वारा राजनीति का जो सांस्कृतिक कायाकल्प कर दिया था, क्या यह उसी की प्रतिष्ठापना का युग-संकल्प है ?

निःसन्देह विश्वमैत्री का आधार संस्कृति ही हो सकती है। प्रश्न यह है कि संस्कृति क्या है और स्वयं उसका (संस्कृति का) आधार क्या है ?

अंग्रेजी के कल्चर और संस्कृत की संस्कृति में एक ही संकेत है। गोस्वामी जी ने कहा है—

कृषी निरावहिं चतुर किसाना ।
जिमि बुध तजहिं मोह, मद, माना ।।

यदि संस्कृति को बाहर भीतर के इस कृषि-कर्म्म में ग्रहण किया जाय तो उसका आधार और स्वरूप स्पष्ट हो जायगा।

कृषि की परिष्कृति की तरह आत्मपरिष्कृति ही संस्कृति है। कृषि और संस्कृति, दोनों का आधार प्रकृति है। गाँवों में प्रकृति से ही मनुष्य को जीवन-यापन का साधन मिला, तपोवनों में उसी से आत्मविकास का वातावरण मिला।

पञ्चभूतों में सक्रिय प्रकृति जड़ नहीं, चेतन है। प्रकृति के उपादानों को विज्ञान की तरह जड़ मान कर हम उसका उपयोग

न करें, इसी का विवेक जगाने के लिए संस्कृति है। जहाँ कृति के साथ अन्त:संज्ञा (आन्तरिक चेतना) का संयोग होता है वहीं संस्कृति का प्रादुर्भाव होता है।

प्रकृति के आश्रय से जो संस्कृति मानव का मनोयोग बनती है वही उसका कर्म्मयोग भी बन जाती है। यों कहें, मानसिक रूप से जो संस्कृति आत्मसाधना बनती है, वही व्यावहारिक रूप से सामाजिक अथवा लौकिक साधना बन जाती है।

चेतना की तरह सूक्ष्म होकर भी संस्कृति सगुण अथवा सदेह है। यदि संस्कृति में प्रकृति की सजीवता है तो सगुण-रूप में वही देह और आत्मा बन गयी है। प्रकृति देहात्म है, अतएव संस्कृति भी सदेह है, उसमें रक्त-मांस (आहार-विहार), आत्मा (चेतना) सबका समावेश है। इस तरह धर्म्म और मोक्ष ही नहीं, अर्थ और काम भी मनुष्य की सांस्कृतिक साधना है।

संस्कृति अपने अनुरूप स्वाभाविक पुरुषार्थ चाहती है, ऐसा पुरुषार्थ जिससे मनुष्य के तन-मन-प्राण का स्वस्थ विकास (सात्विक विकास) हो सके। गृहोद्योग और ग्रामोद्योग (शिल्प और कृषि) मनुष्य का वही नैसर्गिक पुरुषार्थ है। वैज्ञानिक युग (यन्त्र-युग) के पहिले सभी देशों का पुरुषार्थ ऐसा ही नैसर्गिक था। अतएव, जल-वायु की भौगोलिक भिन्नता के कारण सामाजिक और साम्प्रदायिक विविधता होते हुए भी सबकी मध्यकालीन संस्कृति में आन्तरिक एकता है। सच तो यह कि मानवीय सद्भावनाओं (स्नेह, सहानुभूति, श्रद्धा और सहयोग) में सब की संस्कृति एक है।

वह मध्ययुग आस्तिक युग था, प्रकृति में दिव्य चेतना का अस्तित्व मानता था। मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर उसकी इसी मान्यता के अधिष्ठान हैं, चेतना के देवालय हैं। विभिन्न शरीरों में एक ही आत्मा की तरह इन विविध अधिष्ठानों में एक ही संस्कृति की स्थापना है। इसीलिए गान्धी जी मत-मतान्तरों अथवा साम्प्रदायिक भिन्नताओं को महत्त्व न देकर सबको उन रचनात्मक कार्य्यों की ओर प्रेरित करते थे जिनके द्वारा उस आस्तिक युग की संस्कृति में हार्दिक एकता थी।

प्रश्न यह है कि यदि सब की संस्कृति एक थी तो मध्ययुग में 'क्रूसेड' अर्थात् धर्म्म-युद्ध क्यों हुए? इसका उत्तर हमारे देश के साम्प्रदायिक उपद्रवों से मिल जाता है। वे युद्ध धर्म्म-युद्ध नहीं थे, प्रच्छन्न रूप से राजनीतिक अथवा आर्थिक संघर्ष थे। आज पश्चिम के जिन वैज्ञानिक अथवा औद्योगिक देशों में साम्प्रदायिक द्वन्द्व नहीं है, वहाँ यही आर्थिक संघर्ष प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

मध्ययुग में औद्योगिक समस्याएँ नहीं उत्पन्न हुई थीं, क्योंकि जनता अपने रचनात्मक कार्य्यों में स्वावलम्बी थी, इसीलिए अर्थ की अपेक्षा उसकी सारी चेतना धर्म्म में केन्द्रित हो गयी थी। धार्म्मिक कलह (साम्प्रदायिक द्वेष) फैला कर ही उस युग में आर्थिक फूट फैलाया जा सकता था, अतएव स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए आर्थिक संघर्ष को धार्म्मिक संघर्ष का रूप दे दिया था। अब जब कि सभी देशों में वैज्ञानिक उद्योगों का प्रसार हो रहा है, साम्प्रदायिक संघर्ष पीछे छूटता जा रहा है,

आर्थिक संघर्ष वर्ग-संघर्ष में परिणत होता जा रहा है। कभी यह भी अतीत की कहानी हो जायगा।

मध्ययुग की जनता के रचनात्मक कार्य्यों मे माध्यम और मूल्य उसके नैसर्गिक उद्योगों की तरह ही सजीव था। श्रम और सहयोग यही माध्यम और मूल्य था, यन्त्रोद्योगों के पहिले देहातो में इसी का प्रचलन था। राजनीति ने जब से मुद्रागत अर्थशास्त्र चलाया तब से श्रम का स्थान शोषण और सहयोग का स्थान स्वार्थ ने ले लिया। सामाजिकता का ह्रास और वैयक्तिकता का बोलबाला हो गया। आज मनुष्य अपनी चेतना में नही, सरकारी टकसालो में ढल रहा है। उसका यन्त्रीकरण हो गया है। वह व्यक्तित्व नही, टाइप बन गया है। जहाँ सबकी गति-मति टकसालो मे निर्म्मित हो रही है वहाँ व्यक्तियो अथवा उनके समूहों में जीवन की विविधता अथवा विशेषता देखना व्यर्थ है, सभी तो एक ही साँचे के सिक्के हो गये हैं। उनमे स्पन्दन नही, संवेदन नहीं, अन्तःकरण नही। सब निर्म्मम निर्जीव जड़ धातु हैं।

मध्ययुग की स्वावलम्बी जनता यदि धर्म्म में केन्द्रित हो गयी थी तो इस युग की परावलम्बी जनता अर्थ में संकुचित हो गयी है। टका धर्म्म, टका कर्म्म, टका चर्म्म बन गया है। मनुष्य के हार्दिक सम्बन्ध समाप्त हो गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से विच्छिन्न हो गया है। चाहे जनता हो, चाहे नेता, सभी आत्मलिप्सु अथवा आर्थिक शोषक बन गये हैं।

टकसाली अर्थशास्त्र (मुद्रागत अर्थशास्त्र) अथवा राजनीतिक

दासता के दायरे में ही पूँजीवाद फला-फूला। अब उसी दायरे में समाजवाद और साम्यवाद का दुर्द्धर्ष प्रयत्न किया जा रहा है। क्या यही क्रान्ति है? यह तो निर्जीव अर्थशास्त्र के ही नवीन राजनीतिक रूपान्तर का दुष्कर प्रयास है।

क्रान्ति तो तभी होगी जब अर्थशास्त्र मशीनी नहीं, मानवीय बन जायगा; राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक हो जायगा। इसके लिए जीवन के माध्यम और मूल्य में आमूल परिवर्त्तन करना होगा। यही सच्चा इन्क़लाब है। गान्धी जी अपने रचनात्मक कार्य्यों (मुख्यतः ग्रामोद्योगों) द्वारा यही इन्क़लाब लाना चाहते थे।

बादुँग-सम्मेलन में कहा गया है कि हम एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। प्रश्न यह है कि वह कौन-सी संस्कृति है जिसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाय? इस वैज्ञानिक युग ने तो अभी तक कोई संस्कृति नहीं दी—(यद्यपि कुछ लोग मशीनी संस्कृति का स्वप्न देखते हैं। क्या संस्कृति भी मशीनी हो सकती है?) सच तो यह कि टकसाली अर्थशास्त्र ने जैसे मनुष्य की सामाजिकता का ह्रास कर दिया वैसे ही यन्त्रोद्योगों ने उसके स्वाभाविक पुरुषार्थ का। फिर संस्कृति बनेगी कैसे?

सम्प्रति सभी देशों की संस्कृति मध्यकालीन है, अतीत की धरोहर है। उस संस्कृति का अभिप्राय मनुष्य की नैसर्गिक चेतना का विकास है। यदि वह अभीष्ट है तो उसके लिए सभी देशों में तदनुकूल औद्योगिक वातावरण मिलना चाहिये। यदि यह सम्भव नहीं है तो एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने से